अड्डेबाज़ शहर

इलाहाबाद का कॉफ़ी हाउस

नीलाभ

जिस तरह एक मनुष्य की, एक परिवार की और एक शहर की दिनचर्या होती है, उसी तरह उस शहर के सम्मिलन-स्थलों या कहा जाय कि लोगों के मिलने-जुने की जगहों की भी दिनचर्या खोजने पर चिन्हित की जा सकती है। मिसाल के तौर पर इलाहाबाद के विख्यात रहे आये कॉफ़ी हाउस को ही लें तो जिन लोगों ने इस कॉफ़ी हाउस नामक 'संस्था' को नज़दीक से देखा है और उसकी दिनचर्या में शरीक भी रहे हैं, वे इस बात की तस्दीक़ कर सकेंगे कि '60 दशक में इलाहाबाद के कॉफ़ी हाउस का एक औसत दिन कुछ इस प्रकार रहा होगाः

सुबहः नौ बजे के क़रीब कॉफ़ी हाउस के खुलते ही वहाँ कुछ ऐसे लोगों की आमद होती है, जो नियम से सुबह के वक़्त ही वहाँ आते हैं। इनमें खिलाड़ी भी हो सकते हैं, दफ़्तरों के कर्मचारी भी, जो दफ़्तर जाने से पहले यहाँ हाज़िरी लगाना अनिवार्य समझते हैं, और कुछ छोटे-मोटे राजनीति-कर्मी और कुछ ऐसे लोग, जिन्हें किसी भी शहर में 'निठल्लों' का ख़िताब मिला हुआ होता है। अलग-अलग मेज़ों पर बैठे ये लोग अपने-अपने काम-धन्धे से ले कर देश-दुनिया तक की बातों-बहसों में मशगूल नज़र आते हैं। यह क्रम लगभग एक बजे तक चलता है, जिसमें मेडिकल रेप्रेज़ेंटेटिव्स से ले कर ठेकेदारों तक एक मिला-जुला समुदाय आता-जाता रहता है।

दोपहरः वैसे कॉफ़ी हाउस की कोई ऐसी ख़ानाबन्दी नहीं होती कि उसे सुबह-दोपहर-शाम में बाँटा जा सके। एक मुसलसल प्रवाह लोगों का वहाँ दिखाई देता है, जिसे सुबह-दोपहर-शाम के तीन ख़ानों में बाँटना महज़ इसलिए सम्भव हो पाता है कि आने वाले समुदाय एक-दूसरे से मुख़्तलिफ़ होते हैं और अपने निश्चित समय पर ही आते हैं। लिहाज़ा एक-डेढ़ बजते ही वकीलों का झुण्ड सफ़ेद पतलूनों और काले कोटों में मलबूस, गाउन हाथ में लिये, कॉफ़ी हाउस पर उतरता है और इसी के साथ शहर के कुछ ऐसे व्यवसायी भी नज़र आने लगते हैं, जिनकी दिलचस्पी दोपहर की मन्दी को कॉफ़ी की चुस्कियों के साथ राजनीति-चर्चा में गुज़ारने में होती है। दवा कम्पनियों के प्रतिनिधि अस्पतालों का दौरा ख़त्म करके दूसरी बार कॉफ़ी हाउस में आ जमते हैं। इस बीच छोटे-बड़े राजनीति-कर्मियों और छात्र-नेताओं की मेज़ों पर बैठे चेहरे भले ही घण्टे-दो घण्टे बाद बदल जाते हों, मगर सरगर्म बहसें बदस्तूर जारी रहती हैं। हैरत नहीं कि अचानक कॉफ़ी हाउस के दरवाज़े पर लोहिया जी नमूदार हों और अपने साथ चलने वालों से बोलते-बतियाते चिन्ता की पान की दुकान की तरफ़ बढ़ते दिखायी दें।

शामः कॉफ़ी हाउस में सन्नाटा, या कहा जाय कि सन्नाटा तो कभी होता नहीं, मगर लोगों की विरलता साढ़े चार से साढ़े पाँच के बीच होती है, जब वकीलों की दूसरी पारी अदालत से घर लौटते समय की हाज़िरी बजा कर कॉफ़ी हाउस से जा चुकी होती है और जब शाम की सरगर्म पारी शुरु होने से पहले कॉफ़ी हाउस एक अँगड़ाई ले कर थोड़ी-सी आराम की साँस लेता है। साढ़े पाँच के क़रीब एक-एक करके साहित्यिक बिरादरी का आना शुरु होता है। इलाचन्द्र जोशी, साही (विजयदेव नारायण), मार्कण्डेय, भैरव प्रसाद गुप्त, नरेश मेहता, अमरकान्त, शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह, गाहे-बगाहे फ़िराक़, अश्क, सुमित्रानन्दन पन्त और अगर शहर में आये हुए हों तो भगवती बाबू (भगवती चरण वर्मा), नागर जी (अमृतलाल नागर) या फिर अज्ञेय (सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन) भी कॉफ़ी हाउस में नज़र आ जाते हैं। अलग-अलग मेज़ें क़ब्ज़ा कर ली जाती हैं, महफ़िलें सज जाती हैं — इधर परिमल की, उधर प्रगतिशीलों की, तीसरी तरफ़ युवा साहित्यकारों की — और बहस-मुबाहिसे का बाज़ार कॉफ़ी की चुस्कियों के बीच परवान चढ़ने लगता है। यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि ज़्यादा शोर कौन कर रहा है — नेता या साहित्यकार। या फिर यह कोई एक नायाब जुगलबन्दी है, जो कि इस शहर की ख़ासियत है। नौ बजते-बजते महफ़िलें उठने लगती हैं, शम्माएँ अगले दिन के लिए बुझा दी जाती हैं, या अगर बहसों में कोई फ़ैसलाकुन नतीजा न निकला हो, और गुंजाइश बाक़ी हो तो महफ़िल उठ कर किसी चाय की दुकान का रास्ता लेती है। मगर कॉफ़ी हाउस नौ बजते ही एक सार्थक दिन बिताने के

बाद बत्तियाँ गुल कर देता है। हालाँकि बत्ती बुझ जाने के बाद भी मँडराते पतंगों की तरह कुछ लोग बाहर पान की दुकानों या अपने वाहनों के पास खड़े बतियाते रहते हैं और फिर धीरे-धीरे रुख़सत होते हैं।

कमोबेश यही नज़ारा उस दौर के दिल्ली, लखनऊ, पटना और कोलकाता वग़ैरह के कॉफ़ी हाउसों में भी नज़र आता रहा होगा, जैसा कि लोग अब भी याद करते हैं। लेकिन साहित्यकारों के जमावड़े महज़ कॉफ़ी हाउस के मोहताज नहीं रहे। इलाहाबाद की युनिवर्सिटी रोड का विख्यात 'जगाती रेस्त्राँ' हो या फिर दिल्ली में रीगल के पीछे सरदारजी का होटल, जोधपुर के आनन्द सिनेमा के ऊपर चाय की दुकान हो या बीकानेर में 'वातायन' का दफ़्तर या दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी की साप्ताहिक मीटिंगें या जैनेन्द्रजी आदि का 'शनिवार समाज' — साहित्यकार अपने समागम के लिए कोई-न-कोई जगह, कोई-न-कोई तरीक़ा और कोई-न-कोई वक़्त निकाल ही लेते रहे हैं।

हिन्दी साहित्य का मौखिक इतिहास, दूसरा खंड

कैफ़े प्राग

सविता सिंह

लगातार बारिश के बाद
पिघलकर पानी ही तो हो गयी थी इतनी सारी बर्फ़
पड़ी महीनों से लदी सड़कों की आत्मा को किये बोझिल
कितने चुम्बनों आलिंगनों टूटे प्यार के
लंबे रिश्तों को महसूस करती
विषाद की उठती-गिरती लहरों में डूबते
मन की भयावह स्थिति को झेलती
सुनती किसी अंतहीन रुदन के स्पंदन में
मरती उम्मीद को कि
अब पुनः प्रेम नहीं किया जा सकता
जो चला गया वह लौट नहीं सकता

यह बर्फ़ साथ होती है उनके
जो कैफ़े प्राग में किसी परिचित के साथ
पीते हैं गुलाश
करते हैं बातें फ़ेलीनी की 'जूलिया और उसकी आत्माएँ' पर
या फिर चुपचाप देखते हैं बारिश
तत्परता से होती है सहमत यह बर्फ़ उनसे जो मानते हैं
कैफ़े प्राग सहज ही अंतरंग हो जाता है
फीकी किसी हँसी से
चरमरा गये विश्वास से
अकेले लोगों की अजीबोग़रीब दुनिया से
और फिर यहीं तो हुई थी मुलाक़ात
प्रेम में पड़ी इज़ेबेला से
जो मिली थी जब दूसरी बार
तो फटी आँखों से देख रही थी खिड़की के बाहर

ज्वर से पीड़ित प्रेम में आहत
खाती सूखी गारलिक ब्रेड

२
कैफ़े प्राग आते हैं सभी
सुखी और दुखी
देखने रोज़ाना कॉनकोर्डिया विश्वविद्यालय की
फ़िल्म दीर्घा में कला फिल्मों के शो
कभी अपने को खोजने कभी खो जाने
इन फ़िल्मी चरित्रों में
भुलाने या करने याद बातें
जिन्होंने जोड़ा था उन्हें
इस शहर से, इसकी ठंड से
संभव किये थे प्रेम या फिर उपजायी थी घुटन
परिचय में इनके ला खड़ा किया था
क्षणिक मोह में बिलखते सच को

कुछ भी नहीं इस शहर में
कैफ़े प्राग जैसा
शब्द और अर्थों की एक सुरंग-सा
एकालाप की विस्थापित दुनिया में पड़ा औंधा
कैफ़े प्राग इज़ेबेला के प्रेम की विफलता पर
दुखी होता है
जूलिया की आत्माओं की मुक्ति की कामना करता है

बाहर बर्फ़ और बारिश धोती रहती हैं अलग से
दिलों के घाव
उनके दाग़